

* श्रीश्रीगुरुगोपालजी जयतः *

	स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।	
धर्मम् : स्वनुहितः पुंसा चिकित्सेन कथामुः यः		नोत्सादयेद् यदि रूपं श्रम एव श्रिं केवलम्
३	अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मासुप्रसीदति ॥	३
वर्ष = } गौराब्द ४७६, मास—हृष केष २, वार—गर्भोदाशायी } संख्या ३ शुक्रवार, ३२ आवण, सम्वत् २०१६, १७ अगस्त १९६२ }		३

श्रीमद्भक्तिविनोदविरहदशकम्

[त्रिदणिडस्वामि-श्रीमद्भक्तिरच्छक-श्रीधर-महाराज-कृतम्]

हा हा भक्तिविनोदठक्कुर ! गुरो ! द्वाविशतिस्ते समा
दीर्घादिदुःखभराददेषविरहाद्वृत्योक्तता भूरियम् ।
जीवानां वहुजन्मपुण्यनिवहकृष्टे महीमण्डले
आविभविकृष्टां चकार च भवान् श्रीगोरशनिः स्वयम् ॥१॥
दीनोऽहं चिरदुष्कृतिनंहि भवत्पदाव्युत्थिकरणा—
स्नानानन्दनिर्धि प्रयत्न शुभदं लब्धुं समर्थोऽभवम् ।
किन्तवौदायंगुणात्तवातियशासः कारुण्यशक्तिः स्वयम्
श्रीश्रीगोरमहाप्रभोः प्रकटिता विद्वं समन्वयहीत् ॥२॥
हे देव ! स्तवने तवाखिलगुणानां ते विरचादयो
देवा व्यथमनोरथाः किमु वय मत्याधिमाः कुर्मेहे ।
एतन्नो विद्वाः कदाप्यतिशयालङ्कार इत्युच्यतां
शास्त्रेष्वेव 'न पार्थेऽह' मिति यद्गीतं मुकुन्देन तत् ॥३॥

अमंदचमंगतोऽजातैव सतता योगश्च भोगात्मको
 जाने शून्यगतिं जंपेन तपसा स्वातिजिधांसैव च ।
 दाने दांभिकताऽनुरागभजने दुष्टापचारो यदा
 बुद्धि बुद्धिमतां विभेद हि तदा धात्रा भवान् प्रेषितः ॥४॥
 विश्वेऽस्मिन् किरणैर्यंथा हिमकरं सखीवयन्नोषधी—
 नंकथाणि च रज्जुवन्निजसुधां विस्तारयन् राजते ।
 सच्छाङ्गाणि च तोषयन् बुधगणां सम्मोदयं स्ते तथा
 तूनं भूमितले शुभोदय इति ह्लादो बहुः सात्त्वताम् ॥५॥
 लोकानां हितकाम्यथा भगवतो भक्तिप्रचारस्त्वया
 ग्रन्थानां रचनैः सतामभिष्ठैर्ननिविधं देशितः ।
 आचार्यैः कृतपूर्वमेव किल तद्रामानुजाद्यैर्वृध्यः
 प्रेमाम्भोनिधिविग्रहस्य भवतो माहात्म्यसीमा न तद् ॥६॥
 यद्वाम्नः स्तु वाम चैव निगमे ब्रह्मेति संज्ञायते
 यस्यांशस्य कलैव दुःखनिकरैर्योगिश्वरं मृग्यते ।
 वैकुण्ठे परमुक्तभृज्ञचरणो नारायणो यः स्वयम्
 तस्यांशी भगवान् स्वयं रसवाणुः कृष्णो भवान् तत्प्रदः ॥७॥
 सर्वाचिन्त्यमये परात्परपुरे गोलोक वृन्दावने
 चिल्लीलारसरज्जिनी परिवृद्धा सा राधिका श्रीहरे ।
 वात्सल्यादिरसैऽच सेवित-तनोमीषुयं सेवासुखं
 नित्य यत्र मुदा तनोति हि भवान् तद्वामसेवाप्रदः ॥८॥
 श्रीगौरानुमतं स्वरूपविदितं रूपाग्रजेनाहृतं
 रूपार्थैः परिवेशितं रघुगणेरास्वादितं सेवितं म् ।
 जीवाद्यैरभिरक्षितं शुक-शिव ब्रह्मादि-सम्मानितं
 श्रीराधापदसेवनामृतमहो तदातुभीशो भवान् ॥९॥
 क्वाहं मन्दमतिस्त्वतीव पतितः क्व त्वं जगदपावनः
 भो स्वामिन् कृपयापराधनिचयो तूनं त्वया क्षम्यताम् ।
 याचेऽहं करणानिष्ठे ! वरमिमं पादाब्जमूले भवतु—
 सुवर्स्वावधि-राधिका-दयित-दासानां गणे गण्यताम् ॥१०॥

अनुवाद—

हा हा ! भक्ति विनोद ठाकुर ! हे परम गुरो !
बाहर वर्ष के अति दीर्घ दुःखमय एवं असीम आपके
विरहमें पृथ्वी अतिशय दुर्दशाप्रस्त हो पड़ी है ।
जीवोंके जन्म-जन्मान्तरोंकी सुकृति-राशिद्वारा आकृष्ट
होकर आप श्रीगीर-शक्ति स्वयं इस पृथ्वीमण्डल पर
कृपापूर्वक आविर्भूत हुए थे ॥१॥

मैं अत्यन्त दीन-हीन एवं कुकर्मी हूँ । इसलिये
आपके श्रीचरणकमलोंके रेणुकणोंमें स्नानानन्द रूप
प्रपञ्च मंगलप्रद निधिकी प्राप्ति मेरे भाग्यमें सम्भव
नहीं । परन्तु आपकी उदारताके कारण श्रीचैतन्य-
महाप्रभुकी महायशस्वी करुणाशक्तिने स्वयं प्रकटित
होकर इस विश्वको अपना महाअनुग्रह दान किया है
(अर्थात् विश्वके अन्तर्गत होनेके हेतु मैंने भी उनकी
कृपाको प्राप्त किया है) ॥२॥

हे देव ! जब जङ्गा आदि देवगण भी आपकी
निखिल गुण-राशिका (भलीभाँति) बरण्नन करनेमें
असमर्थ हैं, तब अधम मनुष्योंकी तो बात ही क्या
है । इस कथनको परिणामजन अतिशयालङ्कार न
समझें । क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा प्रसिद्ध गान है कि
भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ऐसा कहा है—(तुम लोगों
की भक्तिका बदला) “मैं चुका नहीं सकता” ॥३॥

जिस समय धर्म—चर्म विचारमय हो पड़ा,
अङ्गता ही साधुता हो गयी, योग—भोगमूलक हो
गया, जब ज्ञान-अनुशीलनका उद्देश्य शून्यकी प्राप्ति
हो गया, जप और तपका उद्देश्य—यश और परहिंसा
हो पड़ा, जब दानमें दांभिकताका भाव आने लगा
तथा प्रेम-भक्तिके नामपर धोर पापाचार चलने

लगा—जिसे देख कर बुद्धिमान व्यक्तियोंकी बुद्धि
भी चकरा गयो, ठीक उसी समय विधाता द्वारा
(इस पृथ्वी पर) आप भेजे गये ॥४॥

इस विश्वमें जिस प्रकार चंद्रमा अपनी किरणोंसे
श्रौषधियोंको संजीवित करता है तथा तारा-गणोंको
रंजित कर अपनी ज्योस्त्ना रूप अमृतका विस्तारकर
सुशोभित होता है, उसी प्रकार शुद्ध शास्त्रोंका
(अनुशीलन द्वारा) तोषण एवं परिणाम भरणके लिये
ही इस पृथ्वीतल पर आपका शुभोदय हुआ है ।
इससे भक्त मण्डलीके सुखकी सीमा नहीं है ॥५॥

जगतके कल्याणके लिये आपने अनेक ग्रन्थोंकी
रचनाकर तथा साधु-सम्मत नाना-प्रकारके उपायोंके
द्वारा हरिभक्तिका प्रचार किया है । श्रीरामानुज आदि
मनिधियों तथा दूसरे अनेकों आचार्योंने भी ऐसे ही
कार्य प्राचीन कालमें किये हैं—ऐसा सुना जाता है ।
परन्तु आप प्रेमामृतकी मूर्ति स्वरूप हैं; आपकी
महिमा केवल वहीं तक सीमित नहीं है ॥६॥

जिनके चिदाम्बरकी ज्योतिमात्रको वेदोंमें जङ्गा कहा
गया है, जिनके अंशांशके अंशमात्रकी योगेश्वरगण
भी बड़े-से-बड़े कष्टोंको सह कर भी खोज करते हैं,
परम मुक्तसमूह भी जिनके चरणकमलोंमें मधुकरकी
भाँति सुशोभित हैं, उन परब्योगनाथ साज्जात
नारायणके भी जो अंशी हैं, उन अंशी स्वयं-भगवान्
अखिल रसामृत मूर्तिको ही आप प्रदान करते हैं ॥७॥

सब प्रकारसे अचिन्त्य गुणमय परब्योगके पर-
मोच्च प्रदेशमें गोलोक नामक श्रीबृन्दावन धाममें

अहाँ सखियोंसे परिवेष्टित होकर चिन्मयलीलारस-विलासिनी श्रीमती राधिकाजी बातसल्य आदि चारों रसोंसे सेवित-चिमह श्रीकृष्णचन्द्रके माधुर्य रसके सेवा-सुखका सदा-सर्वदा परमानन्दके साथ विस्तार करती हैं, आप उस धामकी सेवा प्रदान करनेमें समर्थ हैं ॥८॥

श्रीगौरचन्द्रके अनुज्ञालब्ध श्रीस्वरूप-दामोदर जिसके भर्मज्ज हैं, श्रीसनातन गोस्वामी जिसके आदरकारी हैं, श्रीरूप प्रमुख रसतत्त्वाचार्यगण जिसका परिवेषण करनेवाले हैं, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आदि रसज्ञगण जिसे आस्वादन एवं समृद्ध कर रहे हैं, श्रीजीव प्रभु प्रमुख (आचार्यगण) जिसकी

जिसकी रक्षा कर रहे हैं, एवं श्रीशुक, देवादिदेव महादेव तथा लोकपितामह ब्रह्मा आदि जिसका (दूरसे) सम्मान करते हैं—अहो ! उस श्रीराधाके चरणकमलोंकी परिचर्यारूप असृतका भी आप दान करनेमें समर्थ हैं ॥९॥

प्रभो ! कहाँ मन्दमति अत्यन्त पतित मैं और कहाँ जगतपावन महाजन आप ! अतः आप कृपा-पूर्वक (स्तवकारी) मेरे अपराधोंको निश्चय ही क्षमा करेंगे । हे करुणासागर ! मैं आपके श्रीचरणों में यह वर प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपा कर मुझे भी अपने प्राण-सर्वस्व श्रीवर्षभानवीदयितदासोंकी गोष्ठीके अन्तर्गत प्रहण कर कृतार्थ करें ॥१०॥

गुरु-सेवकका कर्त्तव्य

गुरु-सेवकका लक्षण

ऊँचे घरानेमें जन्म प्रहण करनेवाला, विनयी, प्रियदर्शन, सच बोलनेवाला, सदाचारका पालन करनेवाला, महाबुद्धिमान, अहंकार रहित, काम-क्रोध-शून्य, गुरुभक्तियुक्त, तन, मन और वचनसे भगवान् की सेवामें सर्वदा तत्पर रहनेवाला, निरोग, निष्पाप, अद्वायुक्त, हरि-गुरु-बैष्णवोंकी पूजामें अनुरक्त, जितेन्द्रिय और दयालु युवक ही गुरुका सेवक होने योग्य होता है । अहङ्कार, इच्छा, आलस्य तथा जड़-विषयोंमें ममता—इनसे रहित तथा श्रीगुरुके प्रति दृढ़ मित्रता युक्त, गुरुगृहमें एक वर्ष बास करनेवाला गुरुकी सेवा करनेवाला, स्थिर, तत्त्वकी जिज्ञासा

करनेवाला, गुणी व्यक्तिमें दोष-दृष्टि न रखनेवाला मितभाषी व्यक्ति ही गुरुका सेवक हो सकता है ।

कैसे व्यक्ति गुरु-सेवक नहीं हो सकते—

आलसी, मलीन, व्यर्थ ही कष्ट करनेवाला, अहङ्कारी, कृपण, दरिद्र, रोगी, क्रोधी, विषयासक्त, लोभी, परछिद्रान्वेषी, मत्सर, वंचक, कटु-भाषी, अन्याय रूपसे अर्थोपार्जन करनेवाला, पराई छीमें आसक्त, भक्तविद्वेषी, अपनेको परिणित मानकर अहङ्कार करनेवाला, दूसरोंका दोष प्रकट करनेवाला, पर-संतापकारी, अधिक आहार करनेवाला, निर्दयी, दुरात्मा, निन्दित, पापिष्ठ, नराधम, कुक्करी और गुरुदेवके शासनको सहनेमें असमर्थ व्यक्तिको गुरुदेव

अपनी सेवा न देंगे। जैमिनी, सुगत, नास्तिक, नगन, कपिल और गौतम—ये छः हेतुबादियोंके मत प्रहण करनेवाले व्यक्ति गुरुदास नहीं हो सकते।

साक्षात् गुरुसेवाके सम्बन्धमें गुरुसेवकका कर्तव्य

प्रतिदिन गुरुदेवके लिये जल लाना; कुश, पुष्प, यज्ञीय-काष्ठ संप्रह करना, गुरुदेवके शरीरका मार्जन, चन्दन लेपन, घर साफ करना, कपड़े साफ करना तथा उनके दूसरे-दूसरे प्रिय और हितकर कार्योंको करना चाहिये। गुरुके गुरुके साथ गुरुकी ही तरह व्यवहार करना चाहिये। गुरुकी आङ्ग लेकर पितामाताके साथ बोलना चाहिये। गुरुका दर्शन करते ही भूमिष्ठ होकर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये। तन, मन, वचन, प्राण और धनसे गुरुकी सेवा करनी चाहिये। श्रीकृष्णके चरणकम्लोंकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये श्रीगुरुदेवसे अप्राकृत दीक्षा प्रहण करनी चाहिये। श्रीगुरुदेवको भगवत् चुदिसे प्रणाम करना चाहिये। अपनी सब सम्पत्ति यहाँ तक कि अपनी देह तक दक्षिणामें श्रीगुरुदेवको अर्पण कर देना चाहिये। सेव्य भगवान् कृष्णको गुरुके शरीर में अवस्थित जानना चाहिये। एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, फालगुनी पूर्णिमा (श्रीमन्महाप्रभुका आविर्भाव-दिवस) आदि हरिवासरोंमें उपवास करना चाहिये।

गुरुदेवकी साक्षात्-सेवाके समय न करने योग्य कार्य

गुरुके समीप पैर पसारना, उनकी आङ्ग बिना कही जाना, लाम्बी-चौड़ी बासें करना, अहङ्कारयुक्त और जोर-जोखसे वचन बोलना, गुरुदेवका नाम

उच्चारण, गुरुके गमन, वचन और कियाका अनुकरण करना मना है। गुरुके वचन, आसन, सवारी, पादुका, वस्त्र और छायाको लांधना नहीं चाहिये। गुरुदेव भी हमारे जैसे ही हैं—ऐसा अहंभाव मनमें भी नहीं लाना चाहिये। श्रीगुरुदेवको न तो कभी कोई आङ्ग देनी चाहिये, न उनकी किसी आङ्गका उत्तरांगन ही करना चाहिये। गुरुको अर्पण किये बिना कोई चीज प्रहण नहीं करना चाहिये। गुरुके लिये रखी हुई किसी वस्तुको खाना नहीं चाहिये। उनके आगमनके समय उठकर खड़ा हो जाना चाहिये तथा जानेके समय उनका अनुगमन करना चाहिये। उनके बिछोने पर नहीं बैठना चाहिये। गुरुके डॉट-डपट और भर्त्सना करने पर भी न तो उनका तिरस्कार करना चाहिये और न उनके प्रति कठोर वचन बोलना चाहिये। गुरुकी सेवा किये बिना कभी भी मन्त्र प्रहण नहीं करना चाहिये। गुरुकी निन्दा करने-वालोंका संग नहीं करना चाहिये। उनके साथ बोलना भी नहीं चाहिये। मांस, मछली, सुअर, कच्छप आदि भक्षण नहीं करना चाहिये। पादुका सहित देवता और गुरुके घरमें नहीं जाना चाहिये।

शास्त्रके अनुसार गुरु-सेवकोंके पालनीय कर्तव्य

- (१) ब्राह्ममुहूर्त में हरिकीर्तन करते-करते शश्यास्त्राग करना,
- (२) वाय और सुतिपाठपूर्वक भगवान्को उठाना,
- (३) बाजेके साथ मङ्गलारति करना,
- (४) साफ-सुथरे वस्त्र धारण करना,
- (५) अपने इष्टदेवका अर्चन करना,
- (६) पुण्ड्र (तिळक) धारण करना,
- (७) शङ्ख-चक्रादि धारण करना,
- (८) चरणसूत पान,
- (९) तुलसी माला आदि धारण,
- (१०) तुलसी माला आदि धारण,
- (११)

निर्माल्यको उतार देना, (१२) निर्माल्य चन्दनको शरीरमें लेपन करना, (१३) श्रीशालग्राम और श्री-विप्रहकी सेवा, (१४) निर्माल्य तुलसीको मस्तक पर धारण करने आदिके द्वारा उनका समादर, (१५) तुलसी चयन, (१६) तांत्रिकी संध्या, (१७) शिखा-बन्धन, (१८) चरणामृतसे पितृ-तर्पण, (१९) भक्तिके अनुकूल नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान, (२०) महा उपचारके साथ भगवानकी पूजा, (२१) भूत-शुद्धि और न्यास, (२२) नये-नये फूल और फल ठाकुरजीको अर्पण, (२३) तुलसी पूजा, (२४) भक्ति ग्रन्थोंकी पूजा, (२५) त्रैकालिक हरिपूजन, (२६) पुराण-श्रवण, (२७) भगवानको निवेदित वस्त्र धारण, (२८) भगवानकी आङ्गा समझ कर सदू अनुष्ठानोंका आचरण (२९) श्रीगुरुदेवकी आङ्गाका पालन, (३०) गुरुके वचनोंमें विश्वास, (३१) मन्त्र और देवताओंके अनुसार आवाहन आदि मुद्राओंकी रचना, (३२) भजन के द्वेष्यसे नुत्यगीतादि (३३) शंख-ध्वनि (३४) लीला-अनुकरण, (३५) हवन, (३६) नैवेद्य-अर्पण, (३७) साधुका आदर, (३८) साधु-पूजा, (३९) नैवेद्य भोजन, (४०) ताम्बूलका अवशेष प्रदण, (४१) वैष्णव सेवा, (४२) विशेष धर्मकी जिज्ञासा, (४३) दशमी आदि तीन दिन नियम द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा और सन्तोष, (४४) जन्माष्टमी आदि महोत्सवोंका अनुष्ठान (४५) देव-मन्दिरोंमें गमन, (४६) अष्टमहाद्वादशी पालन, (४७) सब ऋतुओंमें महोपचारके साथ हरिपूजन, (४८) वैष्णव-ब्रत पालन, (४९) गुरुदेवमें भगवत्-शुद्धि, (५०) सर्वदा तुलसी संप्रह, (५१) शय्या, पाद-सम्बाहन आदि उपचार प्रदान, (५२) श्रीरामादि भगवानके अवतारोंका चिन्तन—इन ५२

प्रकारके अनुष्ठानोंका पालन करना गुरुसेवकका कर्तव्य है।

गुरु सेवकके लिये निषेध

निम्नलिखित ५२ प्रकारके निषेधोंको अवश्य मानना चाहिये—

(१) दोनों संघ्याकालोंमें सथन, (२) मिट्टीके बिना शौच, (३) खड़े होकर आचमन, (४) गुरुके सामने पैर पसारना, (५) गुरुकी छाया लांधना, (६) समर्थ होते हुए भी स्नान न करना, (७) देवार्चनमें आलस्य, (८) देवता और गुरुकी अभ्यर्थना न करना, (९) श्रीगुरुदेवके आसन पर बैठना, (१०) गुरुदेवके सामने पाइँडत्य प्रकाश करना, (११) जंधाके ऊपर पैर रखना, (१२) श्रीविष्णु-नैवेद्यका उल्लङ्घन करना, (१३) मन्त्रहीन तिलक, (१४) नीला वस्त्र धारण करना, (१५) भगवत्-विमुख एवं वैष्णव-विद्वेषीके साथ मित्रता, (१६) असन् शास्त्र पाठ, (१७) तुच्छ संग-सुखमें आसक्ति (१८) मद्य-मांस-सेवन, (१९) मादक औषधि सेवन, (२०) मसुरी दालका सेवन, (२१) प्याज, लहसुन आदिका भोजन, (२२) अदैष्णवके निकट अन्न प्रहण, (२३) अवैष्णव-ब्रत का पालन करना, (२४) अवैष्णव मन्त्र प्रहण करना, (२५) मारण, उच्चाटन, आदि अनुष्ठान, (२६) सामर्थ्य रहने पर भी हरिसेवामें कृपणता करना, (२७) शोकके वशीभूत होना, (२८) दशमीसे संयुक्त एकादशी ब्रतका पालन, (२९) शुक्लांग व पक्षकी एकादशीमें भेद मानना, (३०) जुआ खेलना, (३१) समर्थ होने पर भी ब्रत-उपचासमें अनुकल्प प्रहण, (३२) एकादशीके दिन आढ़, (३३) द्वादशीके

दिन सोना, (३४) द्वादशीमें विष्णु-स्नान, (३५) विष्णुके प्रसादके सिवा दूसरे द्रव्योंसे आढ़, (३६) वृद्धि-श्राद्धमें अतुलची, (३७) अवैष्णव या राज्ञस आढ़, (३८) चरणामृत रहते हुए भी पवित्रताके लिये दूसरे जलसे आचमन, (३९) लकड़ीके आसनपर बैठे हुए की पूजा, (४०) पूजाके समय असत् कथा, (४१) गृह कनेर या औंकके फूलसे पूजा, (४२) लौह निर्मित धूप-पात्रका व्यवहार, (४३) असंकृत द्रव्यों-से पूजा, (४४) चंचल चित्तसे पूजा, (४५) प्रमादवश भी तिरछा पुण्ड्र धारण, (४६) एक हाथसे प्रणाम और केवल एक बार प्रदक्षिणा, (४७) असमयमें श्रीविष्णु दर्शन, (४८) वासी अब निवेदन, (४९) असंख्य जप, (५०) मन्त्रको प्रकट करना, (५१) मुख्यकाल त्याग और गौणकाल प्रहण, (५२) विष्णु का प्रसाद अस्तीकार।

**श्रीगुरुदेव और गुरुसेवकका तत्व
गुरु और गुरुसेवक—दोनों नित्य हैं। यदि**

कोई व्यक्ति गुरुदेवको मन या हृश्य जगत्की (पाँच-भौतिक) वस्तु समझता है, तो वह बास्तवमें नित्य गुरुदास नहीं हो सकता। गुरुदेवको मरणशील माननेसे और गुरुसेवकके बाहरी शरीरको नश्वर समझनेसे अप्राकृत वस्तुकी नित्यतामें नानाप्रकारके सन्देह उपस्थित होते हैं। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध नित्य और आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित होता है। उसमें कोई हेतुता नहीं होती। अनर्थ दूर होने पर शिष्य यह समझ जाता है कि उसका स्वरूप कृष्णदास है। साथ ही अपने को विशुद्ध चिन् करा भी अनुभव करता है। उस समय गुरु सेवक अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर कहता है—

श्रीचंतन्य-मनोभिष्टं स्थापितं येन भूतले ।
श्रीरूपं हि कदा मह्यं ददानि स्वपदान्तिकम्॥

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्ति सिद्धान्त सरस्वती

हरिनामकी महिमा

है हरि तें हरिनाम बड़ेरो। ताकों मूढ़ करत कर भेरो॥
प्रगट दरस मुचकुन्दहि दोन्हीं, ताहू आयुसु भो तप केरो।
सुत हित नाम भजामिल लीनों, या भवमें न कियो फिरि फेरो॥
पर भपवाद स्वाद जिय राघ्यों, बृथा करत बकवाद चनेरो।
ताको दसयों अंस गदाधर, हरि हरि करत जात कह तेरो॥

—श्रीगदाधर भट्ट

कलि

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ८, संख्या २, पृष्ठ ४८ से प्राप्त]

(२) कलिका स्थान—पान

अब पान रूपी कलिका विचार करते हैं। समस्त प्रकार के मध्योंको ही पान कहते हैं। पान कहीं जल के रूपमें होता है और कहीं धूम्राकारमें। तन्मयमें कहा गया है—

पर्णपुगी ताम्रकूटस्तरिता मदिरा सुरा ।
व्रतविघ्वंशिनो हृते बलिनश्चोत्तरोत्तराः ॥
नागबल्या प्रवद्दन्ते विलासेष्टाः सुदुर्जयाः ।
गुवाकेन सदाचित्तचाच्छत्यं परिलक्षयते ॥
ताम्रकूटात् मतिभ्रंशो जाऊः वैमुख्यमेवहि ।
तरिता सेवनाद्बुद्धिनाशः किल भविष्यति ॥
अहिपेन धूम्रपानं भद्रिका चाष्टसंह्यका ।
स्वल्पकाले प्रकुर्वन्ति द्विपदांश्च चतुर्ष्पदान् ॥
एते चोपाधयः शशवत् वहिमुखेषु कल्पिताः ।
दुर्तकलिना साक्षात् शुद्धभक्तिनिवृत्तये ॥

पान, सुपारी, तम्बाकू, गाँजा, मदिरा और सुरा—इन सब मध्योंका व्यवहार करनेसे समस्त प्रकार के व्रत नष्ट हो जाते हैं। ये सब दिन-प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं। पानके सेवनसे विलासिता जागृत होती है। सुपारीके द्वारा चित्त चंचल होता है। तम्बाकूके द्वारा मतिभ्रष्ट, आलस्य और भगवद्-विमुखता होती है। गाँजेके सेवनसे बुद्धिका नाश होता है। अफीम, धूम्रपान और आठ प्रकारकी मदिराएँ अल्पकालमें ही द्विषदोंको चतुर्ष्पदोंके समान

कर देती है अर्थात् मनुष्योंको पशुओं समान कर देती है। इन समस्त उपाधियोंकी वर्हिमुख जीवकी भक्तिरूपी लताको नष्ट करनेके लिये दुष्ट कलिने सुष्टुप्ती की है।

अन्य तन्मयमें भी लिखा है। यथा—

संविदा कालकूटच ताम्रकूटच धुस्तरं ।
अहिपेन खजुरसं तारिका तरिता तथा ॥
हत्यष्टौसिद्धिद्व्याणि भक्तिहासकराणि वै ।
स्वकार्यसिद्धये साक्षात् कलिना कल्पितानि हि।

भाँग, कालकूट (बछनाग), तम्बाकू, धतूरा, अफीम खजूर रस, ताड़ी और गाँजा—ये आठ सिद्धि-द्रव्य हैं। कलि अपने कार्यकी सिद्धिके लिये, अपने मायाजालमें फँसानेके लिये इन्हीं आठ प्रकारके द्रव्योंका सहारा लेता है।

अन्य तन्मयमें मदिराके विषयमें—

माघिकमैथियं द्राक्षयं तालखजुरं पानसं ।
मैथ्यं माघिकं टांकं माघुकं नारिकेलजं ।
मुख्यमन्नविकारोत्थं मद्यं द्वादशाष्टा स्मृतम् ॥

माध्विक—मधुसे उत्पन्न मद्य, ऐच्छ—इससे उत्पन्न, द्राक्षय—आंगूरसे बनी हुई, ताळ—ताड़ीसे बनी हुई, खजूर—खजूरसे उत्पन्न, पनस—कटहलके रससे उत्पन्न, मेरेय—गुडसे बनने वाली एक प्रकारकी मदिरा, माच्चिक—मधुमक्खियों द्वारा संप्रहीत मद्य, टांक-भाँगसे बनी हुई मदिरा, माधुक—महुआहसे बना।

हुआ, नारिकेल जलजात—नारियलके जलसे उत्पन्न और अज्ञजात—अज्ञको सदा गलाकर तैयार किया गया मद—ये बारह प्रकारके मद हैं। मूल श्लोकमें मन शब्दके अर्थमें लिखा गया है—‘पानं मद्यादिः।’ चादि शब्दसे सब मदिराओंको समझना होगा। ताम्बूलसे आरम्भ कर अज्ञसे बने मद्यतक समस्त मद्य ब्रतनाशक हैं। जो धर्ममें श्रद्धा रखते हैं, वे अवश्य ही इन सब मद्य मदिराओंसे दूर रहेंगे। मद्य मदिराओं द्वारा वैराग्य और भजनके मार्गमें उपकार होता है—केवल मदिराके दास ही अपने समर्थनमें ऐसा कहते हैं।

(३) कलिका स्थान—स्त्री

अब ‘स्त्री’—शब्दका विचार किया जा रहा है। स्त्री शब्दसे धर्मपत्नी एवं अधर्मपत्नी दोनोंका ही बोध होता है। पहन्तु यहाँ पर धर्मपत्नीकी बात नहीं कही गई है, क्योंकि शास्त्रमतमें—

न शुहं गृहमित्याद्युर्हिणी गृहमुच्यते ।

तथा हि सहितः सर्वान् पुरुषार्थान् समदनुते ॥

(उद्घाट—तत्त्व)

धर्मपत्नीकी सहायतासे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और पंचम पुरुषार्थरूप भक्तिकी सेवा करें—यही गृहस्थ पुरुषोंकी नित्यविधि है। विवाहित पत्नीकी सहायतासे जीवन निर्वाह करनेसे कलि दोष नहीं लगता। जहाँ पुरुष खैण भावसे अपनी पत्नीके वशीभूत होकर कर्त्तव्य विमृड होता है, वहाँ पर विवाहित पत्नीमें कलिका अवस्थान है। धर्म-शून्य स्त्रीसङ्ग ही कलिका बल है। वैष्णव-शूष्णिगण, अम्बरीषादि राजागण एवं श्रीकृष्णचैतन्यपार्थद श्रीवासादि भक्तगण आदर्श गृहस्थके उदाहरण हैं।

इसीलिये श्रीमहाप्रभुने संन्यासियोंको गृहस्थ वैष्णवके निकट दण्डवत् करनेकी शिक्षा दी है। यथा श्रीचैतन्यभागवत् अन्तिम खण्डके अष्टम अध्याय में—

वैष्णव तुलसी गङ्गा प्रसादेर भक्ति ।
तिहों से जानेन, अस्ये ना घरे से शक्ति ॥
वैष्णवेर भक्ति एइ देखान साकात् ।
महाश्रमी वैष्णवेरे करे दण्डपात ॥
संन्यास ग्रहण कैले हेत घर्म तार ।
पिता आति पुत्रे करेन नमस्कार ॥
अतएव संन्यासाश्रम सबार वनिदत ।
संन्यासी संन्यासी नमस्कार से विहित ॥
तथापि आश्रम घर्म छाड़ि वैष्णवेरे ।
शिक्षागुरु श्रीकृष्ण आपने नमस्कारे ॥
शिक्षागुरु नारायण जे करायेन शिक्षा ।
ताहा जे मानये, सेई जन पाय रक्षा ॥

(च. भा. अ. दा१४६-१५३, १६२)

समस्त शास्त्रोंमें धर्मपत्नीका आदर दृष्टिमोचर होता है। और अधर्म पत्नीको सर्वत्र ही बुरा बतालाया गया है। तथापि सहजिया और बाड़लगण (बंगालके) पर-स्त्री लेकर उपासनाकी आदर्में महाकुर्कम करते हुए कलिके शिकार होते हैं। और अभ्यासमें महारौरेकमें पतित होते हैं। वेश्यालयोंमें जो समस्त कुर्कम होते हैं, उनका यहाँ कहना ही अधिक है। इसलिये स्त्रीसङ्ग भी कलिका कार्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। धर्मपत्नीके सहयोगसे भक्तिका साधन कर जीवन-निर्वाह करना एक बात है और अधर्मपत्नी अथवा उपपत्नीमें रत होना—उससे ठीक विपरीत है। अधर्माश्रित-स्त्रियाँ सर्वदा ही कलिके स्थान हैं, अतएव उनसे दूर रहना चाहिये।

(४) कलिका स्थान—सूना (हिंसा)

'सूना' का अर्थ है प्राणीबध । इच्छापूर्वक जहाँ प्राणीबध होता है, वही कलिका पकान्तिक स्थान है । इसलिये नारदजीने कहा है—

नह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभृशो रजो गुणः ।
श्रीमदादाभिजात्यादिवंत्र ऋचूत्मासकः ॥
हन्यन्तं पश्चो यत्र निर्देयं रजितात्मभिः ।
मन्यमानैरिमं देहमजरा मृत्यु नश्वरम् ॥

जो जड़ाशक्ति है, उसमें बुद्धिको नष्ट करने वाले अन्यान्य रजोगुणोंकी आवश्यकता नहीं है । श्री-मद-रूप रजोगुणसे लेकर सत्त्वकुलमें जन्मका व्यर्थ अभिमान, अवैध-स्त्रीसङ्ग, शुक्रकीका, मद, धुमादिपान, मनुष्योंमें परस्पर विषय-सम्बन्धी भगड़े, रसनेन्द्रियकी तृप्तिके लिये जीव-बलि, आदि समस्त प्रकारकी जीव-हत्या तक—सबमें कलिका निवास होता है ।

कलि-पंचक सब प्रकारसे छोड़ने योग्य है

रजोगुणसे ही अर्थके प्रति लोभ पैदा होता है । इसलिये अर्थका सदुपयोग भगवान् और भक्तोंकी सेवामें करते हुए विशुद्ध रूपमें जीवन निर्वाह करना चाहिये । इसके लिये यथायोग्य जितने धनकी आवश्यकता हो, उतना ही संप्रह करना कर्तव्य है, इसके विपरीत अपने भोगविलासके लिये सुंवर्ण अर्थात् धनादिके प्रति जो आसक्ति होती है, उसमें कलिका वास होता है । अनुत्त अर्थात् मिथ्या भाषण और कपट व्यवहार द्वारा मनुष्यका स्वभाव अत्यन्त दूषित

होता है, उसमें भी कलिका वास है । मद कलिका प्रिय स्थान है । भागवतमें कहते हैं—

विद्या विभूत्याभिजनेन विद्या
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्विषयः महेश्वरान्
सतोऽत्यमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥

धनका अभिमान, उत्तम कुलमें जन्माभिमान, जड़ीय विद्या, संन्यास, रूप और बल—इन छः प्रकार के मर्दों द्वारा भयङ्कर वैष्णवापराध होता है । इनमें भी कलिका निवास होता है । वैर, जो कलिका वास-स्थान है, इसमें सन्देह ही क्या है ।

इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कच्चन ।

न चैनं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचिद् ॥

कोई व्यक्ति तुमसे भगड़ा करे, उसको सहन करना, किसीका भी अपमान न करना, इस शरीरका आश्रय करके किसीके प्रति द्वेष साधना न करना । काम भी कलिका स्थान है । कृष्ण-सेवाके कार्योंमें भी यदि अपने भोगकी कामना हो, वहाँ भी कलिका स्थान है । उसका अवश्य परित्याग करना चाहिये ।

कलिके स्थानोंका त्याग न करनेसे कभी की हरिका जन नहीं हुआ जा सकता । इन समस्त विषयों पर सज्जन तोषणी (श्रीभागवत पत्रिका) पुनः-पुनः आलोचना करके सज्जनगणको संतुष्ट और सतर्क करती रहती है । पाठकविशेष मनोयोग द्वारा इस प्रबन्धका पाठकर उस पर आचरण करने की चेष्टा करेंगे ।

—३५ विष्णुपाद श्री श्रीमद्भवित विनोद ठाकुर
(अनुवादकः—ओ०३३ प्रकाश नहाचारी, साहित्यरत्न)

सदाचार और मानव

[२]

भौतिक-विज्ञानके साधनोंसे सम्पन्न इस युगमें प्रतिदिन धर्म, सत्य, पवित्रता, न्मा, दया, आयु और स्मरण शक्तिका ह्वास होरहा है। सदाचार और संस्कारोंमें पाखण्ड बढ़ रहा है। वर्णाश्रम-मर्यादाएँ लुप्त हो रही हैं, समग्र स्थल आमुरी भावापन्न व्यक्तियों से आक्रान्त हो रहे हैं। गङ्गादि जैसे पवित्र प्रधान-प्रधान तीर्थ दुष्टोंसे आवृत हैं, लौकिक-पारमार्थिक सभी कार्य यशः प्राप्तिके साधन बन चुके हैं।

वित्तमेव क्लौनुणां जन्माचारगुणोदयः ।
धर्मन्यायव्यवस्थायां कारण बलमेव हि ॥
दाम्पत्येभिरुचिहेतुर्मायिव व्यावहारिके ।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे न हि रतिविप्रत्वेसूत्रमेव हि ॥
लिङ्गमेवाथमस्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ।
अवृत्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ॥
मनाकृतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु ।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥
दायर्य कुदुम्ब भरणं यशोऽर्थं धर्म सेवनम् ।
एवं प्रजाभिरुदृष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ॥

(श्रीमद्भा० १२।२।२,३,४,५,७)

जिसके पास धन है, वही सदाचारी, कुलीन और सदूगुणी है। जिसके हाथमें शक्ति है, वही धर्म न्यायकी व्यवस्था अपने अनुकूल करनेमें समर्थ है। विवाह सम्बन्धके लिये कुल, कौशल, योग्यताकी परख नहीं हैं, बल्कि युवक युवतीकी पारस्परिक रुचि ही विवाह सम्बन्धका कारण है। व्यवहारकी कुशलता

और सचाई इमानदारी नहीं हैं, जो जितना छल-कपट कर सकता है, वह उतना ही व्यवहारनिषुण है। स्त्री पुरुषकी श्रेष्ठताका आधार उनका शील संयम नहीं, केवल रतिकौशल ही है, ब्राह्मणकी पहिचान उसके गुण स्वभावसे नहीं, यज्ञोपवीत मात्रसे है। बख, दण्ड, कमण्डलु आदिसे ब्रह्मचारी संन्यासी आदिकी पहिचान कर ली जाती है। एक दूसरेका चिह्न स्वीकार करना ही एक दूसरे आश्रममें प्रवेश है। जो धूम देने या धन खर्च करनेमें असमर्थ है, उसे न्यायालयों में ठीक न्याय मिलना कठिन है। जो जितना घोल-चालमें चतुर है, वह उतना ही महा परिणित है।

गरीब होना ही असाधुता और दोषी होनेकी पहिचान है। जो जितना दम्भ पाखण्ड कर सकता है, वह उतना ही साधु है। विवाहके लिये एक दूसरेकी स्वीकृति ही पर्याप्त समझी जाती है। ब्राह्मदिसे सञ्जित होना ही स्नान है।

योग्यता चतुराईका सबसे बड़ा लक्षण है। अपने कुदुम्बका पालन कर लेना, यशः प्राप्तिके लिये ही धर्म-का सेवन करना आदि बातें फैल रही हैं। पृथ्वी दुष्ट स्वभावके व्यक्तियोंसे परिपूर्ण है।

ऐसी स्थितिमें सदाचार ही मानव-जीवनका उपादेय साधन है। वही मानव-व्यवहारोंकी सफलता की कुञ्जी है। इहलोक और परलोकमें श्रेष्ठताका वर्धक है। सदाचारके निरन्तर अभ्याससे हृदयमें पवित्र भावोंकी सृष्टि होती है। प्राणिमात्रके प्रति

प्रेम सहानुभूति जन्म लेती है। सद्गुणोंकी बुद्धि होती है। मानव भगवद्-भक्तिकी ओर उन्मुख होता है। अतः सदाचारका पालन ही मुख्य कर्त्तव्य है। केवल ऐसा ही मानकर सदाचारको प्रधानता देकर चलनेसे हमारा ध्येय सिद्ध नहीं होता, इसमें एक बड़ी कठिनाई तो यह है कि वर्तमानयुगमें संस्कारों एवं सदाचारका पालन करना अतिकठिन है। दूसरे जो संस्कार एवं सदाचार विहीन हैं, निःसाधन हैं, उनका उद्धार किस प्रकार होगा ?

अतः हमें ऐसे मार्गका भी अन्वेषण करना है, जिससे प्राणिमात्रका उद्धार हो, सर्व साधन हीन निखिलदोषयुक्त दुष्ट व्यक्ति भी जिससे अपनेको कृतार्थ कर सकें, वह है “भगवद्-भक्ति” या “भगवत्ताम कीर्तन”; जिसका आश्रय लेकर स्वभव जीव पवित्र होते हैं, घन्य होते हैं। जिसकी अमर धारा युगों-युगोंसे प्रवाहित होती हुई प्राणिमात्रके पाप कलुपको धो रही है। न यहाँ वर्णकी आवश्यकता है, न आश्रेमकी, न रूप, जाति, अवस्था, तप, यज्ञ, दान, सदाचार एवं अन्यान्य उपकरणोंकी। इस धाराके अन्तर्गत जो भी आता है, वह निर्मल हो जाता है।

स्तेनः सुरापो मित्रघ्रुग् ऋग्याहा गुरुतत्पगः ।
स्त्रीराज पितृ गोहन्ता यं च पातकिनोऽपरे ॥
सर्वेषामप्यध्वतामिदमेव सुनिष्ठतम् ।
नाम व्याहरणं विष्णोयंतस्तद्विषया मतिः ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१०-११)

चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नी-गार्मी, स्त्री-राजा-पिता-गोका मारने वाला, इससे भी बढ़कर पापी भले ही क्यों न हो, सभी पापियोंके

लिये यही सबसे बड़ा प्रायशिच्छा है कि वह भगवान् के नामोंका उच्चारण करे। क्योंकि भगवान्के नाम उच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्के गुणलीला और स्वरूपमें रम जाती है और भगवान्के प्रति-आत्मीय बुद्धि हो जाती है।

भगवत्तामका स्मरण किसी भी रूपमें क्यों न किया जाय, वह पापसमूह रूपी लकड़ियोंको जलानेमें अग्निके समान है—

सांकेत्यं परिहास्यं वा स्तोत्रं हेतनमेव वा ।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषावहरं विदुः ॥

पतितः स्वलितो भग्नः सन्दृष्टस्त भ्राह्मतः ।

हरिरित्यवज्ञेनाह पुमान्नाहंति यातनाम् ॥

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्चोकनाम यत् ।

सञ्ज्ञीतितमचं पुंसो दहेदेषो यथानलः ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१४-१५-१६)

संकेतसे (किसी दूसरे अभिप्रायसे), परिहाससे, तान-अलापसे अथवा अवहेलासे भी यदि कोई भगवान्के नामोंका उच्चारण करता है, तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य गिरते समय, पैर किसलते समय, झङ्ग-झङ्ग होते समय, सांपके ढंसते, आगमें जलते तथा चोट लगते समय विवरशातासे भी “हरि हरि” कह कर भगवान्के नामका उच्चारण कर लेता है, वह यम-यातनाका पात्र नहीं रह जाता। जानमें या अनजानमें इंधनसे अग्निका स्पर्श हो जाय, तो वह भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जानबूझ कर या अनजानमें भगवान्के नामोंका संकीर्तन करनेसे मनुष्यके सारे पाप भस्म हो जाते हैं।

भगवान्‌के परमपावन नामोंका कीर्तन वैष्णवोंके सङ्गमें कर लोकमें किरात, हूण आदि कैसी भी नीचातिनीच जातियाँ क्यों न रही हो, शुद्ध हुई हैं—

किरातहूणांघ्र पुलिन्द पुलकसा,
आभीरकङ्कायवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः,
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णुवे नमः ॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे पापी, जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण प्रहण करनेसे ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्व शक्तिमान भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है।

क्योंकि इस घोर कलिकालमें—

थृ कलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।

सरकलं लभते सम्बङ्गलौ केशव कीर्तनात् ॥

(भा० मा० अ० २ श्लो० ६६)

तथा “हरेन्नाम हरेन्नाम हरेन्नमेव केवलं । कलौ-नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा” ऐसी घोषणा मिलती है।

परन्तु लोकैकशरण्य पतितपावन दीनदयालुके नाममें श्रद्धा और रुचि उत्पन्न होनेके लिये भूरि भाग्य संचित पुण्य और अशरण-शरण प्रभुकी अहैतुकी कृपाकी नितान्त आवश्यकता है, या परम भक्त वैष्णव साधुओंकी सङ्गति की। साधु-वैष्णवोंके निरन्तर सङ्ग से, उनके सद्वचन अवणसे और उनकी सेवासे शनैः शनैः सभी प्रकारके मानवके सहज, देशकालोत्थ, लोक वेद-निरूपित, संयोगज, स्पर्शज आदि समस्त

दोष निवृत्त हो जाते हैं। उनके पादरजोभिषेकसे मन, वाणी और शरीर निर्मल हो भगवान्‌के चरणकमल-चंचरीक होनेको अप्रसर होते हैं। अन्तःकरणमें मार्ग द्रष्टा कृपालु गुरुदर्शनकी साध जागृत होती है। सांसारिक पदार्थोंसे आसक्ति दूर हो जाती है। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी उत्कट व्यग्रता बढ़ती है। तब उसे प्राणिमात्रमें समझाव रखनेवाले, वैराग्य युक्त, मत्सरता-रहित, जितेन्द्रिय, पवित्र, सर्वावयव-संयुक्त, मन, वाणी, कर्मके द्वारा सबको अभय देने वाले, सदा भगवन्मय, गुरुके दर्शन होते हैं।

यः समः सर्वभूतेषु विराणी गतमत्सरः ।

जितेन्द्रियः शुचिदंकः सर्वाङ्गावयवान्वितः ॥

कर्मणा मनसा वाचाभीतेष्वभयदः सदा ।

सम बुद्धि पव प्राप्तस्तत्पापि भगवन्मयः ॥

(विज्ञान उपनिषद्)

गुरु-दर्शन मात्रसे ही सभी दुःख दोष दूर हो जाते हैं। अज्ञान तिमिर नष्ट होने लगता है। प्रकाश का उदय होता है। उसी समय परमकारुणिक गुरुदेव उसके योगज्ञेमका भार अपने ऊरर ले लेते हैं। उसे पावन नाम-मन्त्रकी दीक्षा देकर कृतार्थ करते हैं। यह सिद्धान्त है कि गुरुके बिना सम्प्रदायसे विहीन मन्त्र फलदायक नहीं होते। इसीसे नाम मन्त्रकी दीक्षा भी आवश्यक है—

“विधिना सम्यग् ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः ।”

नाम मन्त्र ग्रहणमें गुरुकी आज्ञा ही प्रमाण है। उसमें स्थान, तिथि, होम, अन्यान्य साधनोंकी कोइ महत्ता नहीं; क्योंकि सभी विधि-विधान गुरुकी आज्ञा पर ही आधारित हैं।

नाम-मन्त्र-दीक्षा द्वारा गुरुकी कृपासे उसकी दैनिक चर्या, समग्र व्यवहार और कार्य विशेष रूपसे भगवत्सान्मुख्यता प्रहण करने लगते हैं। प्रातः जागृतिसे लेकर शयन तकके सारे कार्य महाभागवत अन्वरीषके समान होने लगते हैं।

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्बन्नासि वैकुण्ठगुणानुवरणंने ।
करी हरेमन्दिरमाज्ञादिषु ध्रुतिं चकाराच्युतं सर्तकथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयं दर्शने हशी तद्भृत्यगात्रं स्पर्शोऽङ्गं सङ्गमम् ।
ध्राणं च तत्पादसरोजसीरभे श्रीमत् लस्यारसनां तदपितो ॥
पादी हरे: क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशं पदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये ननु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रयारतिः ॥

(श्रीमद्भारत १४।१८-२०)

उसका मन भी श्रीकृष्ण चरणकमल युगलमें, वाणी श्रीकृष्ण-गुणोंके दर्शनमें, हस्त हरि-मन्दिर मार्जनमें, कर्ण अच्युतके कथाश्रवणमें, नेत्र मुकुन्दके स्वरूप एवं मन्दिर दर्शनमें, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तोंके शरीर स्पर्शमें, नासिका उनके चरण कमलों पर चढ़ी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्धमें, रसना भगवान्के अपित नैवेद्यके आस्वादनमें संलग्न होती है। चरण, भगवान्के देवताओंकी पदयात्रामें, शिर श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंकी वन्दनामें, माला-चन्दन प्रभृति भोग-सामग्री भगवान्की सेवामें समर्पित करते हैं। उन्हें अपने भोगनेकी इच्छासे नहीं, किन्तु इसलिये कि भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हों, उनका प्रेम प्राप्त हो। ऐसे ही महाभागवत भगवान्के निजजनोंमें निवास करते हैं।

बास्तवमें शरीर, मन, वाणी, हस्त, चरण, कर्ण, शिर, नासिका और जिहा आदि शरीरकी इन्द्रियोंकी सार्थकता इसीमें है कि उन सबको भगवान्की सेवामें

लगा दिया जाय। जब उसकी यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो फिर उसे संसारमें किसी भी प्रकारकी भगवआम उच्चारणमें शङ्का वा लङ्घन नहीं होती—

श्रुण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणीजन्मानिकर्माणि च यानिलोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलङ्गी विचरेदसंगः ॥
एवंप्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नुत्यति लोकवाह्यः ॥

श्रीमद्भारत १११।३६-४०

वह भगवान्के जन्म-लीलाकी मङ्गलमयी कथाओंको सुनता है, उन गुणों और लीलाओंको स्मरण दिलानेवाले भगवान्के भासीका लाज-सङ्कोच छोड़ कर गान करने लगता है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या स्थान आदिसे आसक्तिका परित्याग कर विचरण करता है।

इस प्रकारके ब्रतसे इसके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुके नामकीर्तनसे अनुरागका—प्रेमका अंकुर जमाता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। लोगोंकी मान्यताओं व धारणाओंसे वह परे हो जाता है। दूसरसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला होकर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगता है। कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी अपने प्रियतमका अपने सामने अनुभवकर उन्हें रिमानेको नृत्य करने लगता है।

वह सर्वत्र जल-स्थलमें प्रभुके श्रीविष्णुके दर्शन करता है; उन्हें प्रणाम करता है—

खं वायुमणि सलिलं महीं च
उयोतीषि सत्वानि दिष्टो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, प्रह, नक्षत्र,
प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, बनस्पति, नदी, समुद्र आदि-
को तथा प्राणी अप्राणी कोई भी सामने आ जाय
उसे अनन्य भावसे प्रणाम करता है तथा जो भी मन
से चारीसे शरीर इन्द्रियोंसे कार्य करता है, उन्हें
भगवान्‌के चरणोंमें समर्पणकर आनन्दका अनुभव
करता है ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैव बुद्ध्याऽऽत्मना वानुमृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

श्रीमद्भा० (११।२।३१)

भागवत धर्मका पालन करने वालेके लिये कोई
ऐसा नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म
ही करे; वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे,
अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभावसे
जो भी कर्म करता है, वह नारायणके लिये करता
है और उन्हें ही समर्पण कर देता है । ऐसी दशामें
वह बौद्धिक सदाचारका या धार्मिक सदाचारका
पालन नहीं कर पाता तो उसके लिये कोई वाधा
उपस्थित नहीं होती; क्योंकि वह वैष्णव भक्तिनें
तन्मय हो चुका है । उससे लोकाभास दूर होगया है
वह वैष्णवाचारसे पूत है ।

ऐसे ही मानव सदाचार सम्पन्न वैष्णव नामसे
लोकमें प्रसिद्ध होते हैं ।

स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः
कलुषमुषं शुभनाम चरमनन्तः ।
जय जय परिषोषणां रटन्तः
किमुविभवा. खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः
हरिचरण सरोज मुग्मचित्ता
जडिमधियः सुख दुःख साम्यरूपा ।
अपचिति चतुरा हरी निजात्म
नत वचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
वैष्णव प्र. मा. १०. इलो. ११३, ११४

जो वैष्णव भगवान् श्रीकृष्णके पापहारी शुभ
नाम सम्बन्धी मधुर पदोंका गान करते हैं, जय-जय
घोषणाके साथ अगवन्नाम, कीर्तन करते हैं, वे अकि-
ञ्जन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं ।

जिनका मन श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर
लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जड तुच्छि
सदृश बने रहते हैं, सुख-दुःख दोनों ही जिनके लिये
समान हैं, जो भगवान्‌की परिचर्यामें ही सतत-
दक्ष हैं तथा अपने मन और विनययुक्तवाणीको भग-
वान्‌की सेवामें समर्पितकर चुके हैं, वे वैष्णव नामसे
पुकारे जाते हैं । इस प्रकारके वैष्णवोंके समक्ष त्रिभुवन
की सम्पत्ति भी तुच्छ है । न संसारके उत्तमसे उत्तम
भोग ही उन्हें आकृष्ट करनेमें समर्थ हैं, न हरि-
चर्चाको छोड़कर संसारकी विषय चर्चा ही उन्हें सुखद
होती है, न उनका मनही भगवच्चारणारविन्दसे पृथक
होता है ।

त्रिभुवन विभव हेतवैष्णवकृष्ण

स्मृतिरजितात्ममुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दात् ।

लब्धनिमिषाधंमपिः स वैष्णवाग्रयः ॥

(श्रीमद्भागवत् ११२५३)

जो भगवान् के चरणकमलों से आधे लग्न के लिये भी, आधे पल के लिये भी नहीं हटते, निरन्तर उनके चरणों की सञ्जिधि और सेवा में ही लगे रहते हैं, यहाँतक कि कोई उन्हें त्रिमुखन की राजलद्धी भी दे तो भी वह भगवत्समृतिका तार नहीं तोड़ते, उस ओर ध्यान नहीं देते, वे वैष्णवाग्रगणय-पुरुषों को टिमें आते हैं ।

मानवका वास्तवमें शुद्ध भक्ति प्राप्त करना ही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है । यही चरम उन्नति है, यही उसका विकास है, यही अमर धनकी प्राप्ति है, यही भाग्योदय है । जीवनकी सफलता, विद्याका फल है कि—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

इस सिद्धान्तको हृदयज्ञम् कर अपना जीवन सार्थक करे ।

—बागरोडी कृष्णचन्द्र शास्त्री

भगवानकी कथा

(पूर्व प्रकाशित वर्ष ८, सं० १, पृष्ठ १४ से आगे)

गीताके उपरोक्त श्लोकों (गीता ७-२०) में आसुरी-वृत्तिकी प्रतिच्छवि अङ्कित है । जगतमें चिरकालसे ही दो प्रकारके व्यक्ति हैं—(१) दैवी-स्वभाव के व्यक्ति या देवता और (२) तद्विपरीत आसुरिक स्वभावके व्यक्ति या असुर । प्राचीनकालमें रावण जैसे कुछ ऐसे असुर थे, जो संन्यासीका वेश धारण करके भगवान् रामचन्द्रकी शक्ति सीताको हरणकर ध्वंशको प्राप्त होते थे । आजकल उसी रावणका परिवार लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें वृद्धि-प्राप्तकर परस्पर सीताहरणकी प्रतियोगितामें व्यस्त हैं । इसी प्रतियोगिताके फलस्वरूप असुर लोग परस्पर शत्रु हो रहे हैं । सभी अपनेको ही अधिक चतुर समझते हैं और स्वयं सीताका भोग करना चाहते हैं । किन्तु वे

सभी रावणकी तरह अपने वंशके सहित ध्वंशको प्राप्त होते हैं । जगतमें हिटलर, मुसोलिनी जैसे बड़े-बड़े महाबली हुए । किन्तु भगवानकी शक्तिका भोग करनेकी आशाकर ध्वंशको प्राप्त हुए, हो रहे हैं और होंगे । इस प्रकारकी अन्याय भोग-प्रवृत्ति ही मनुष्य जातिकी अशानितिका मूल कारण है ।

किस विषयमें प्रवृत्ति होना चाहिए और किस विषयसे निवृत्त होना चाहिए—इसे आसुरिक व्यक्ति समझ नहीं पाते । रोगीकी चिकित्साके लिए भृत्य-भृत्यका विचार करना पड़ता है । इसी तरह रावण जैसे आसुरिक भावापन्न मनुष्यके रोगकी निवृत्तिके लिए उसकी प्रवृत्तिको बदलना अत्यावश्यक है । जिस

प्रकार रोगीकी चिकित्सा करनेके लिए उसकी पारि-
पार्श्विक शुचि और आचार आदिको ओर ध्यान
दिया जाता है, उसी प्रकार आमुरी स्वभावका परि-
वर्तन करनेके लिए मनुष्य जातिको शौच, आचार
एवं सत्यतामें प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। “जितने
मत उतने पथ” के अनुसार लोक वंचनाकर शुचि
और अशुचि, आचारवान और दुराचारी, सत्य और
भूठ आदि सबको एक बतलानेसे रोगकी चिकित्सा
कभी भी सम्भव नहीं है।

असत्यके आभित असुरगण इतने मूर्ख हैं कि
क्षण-क्षणमें शरीरकी असत्यताकी उपलब्धि करके भी
वे उसी शरीरको ही सभी कार्योंका मूल समझ बैठे
हैं। वे यह नहीं समझते कि “शरीरी” (आत्मा)
ही सत्य वस्तु है और “शरीर” असत्य वस्तु है। वे
विवर्तवादसे मोहित होकर स्थिर करते हैं कि इस
जगत रूपी बृहत्तम शरीरका कोई शरीरी नहीं है।
जिस प्रकार वे अपने शरीरमें स्थित शरीरी रूप
आत्माको नहीं जानते, उसी प्रकार विश्व ब्रह्माण्डरूप
विराट शरीरमें शरीरी है, इसे वे समझ नहीं पाते।

जिस प्रकार वे अपनेको शरीर समझते हैं, वैसे
ही विश्वब्रह्माण्डरूप विराट शरीरको भी प्रकृति-जात
या स्वर्यं प्रकटित समझते हैं। किसी भी विषयकी
मीमांसा करनेके लिए प्रकृतिका नाम लेकर समाधान
करना चाहते हैं। उनमेंसे कुछ व्यक्ति ‘अव्यक्त’ कह
कर इस विषयको रद्द कर देते हैं। किन्तु इस सारी
व्यक्ताव्यक्त प्रकृतिकी सृष्टिसे बहुत पूर्व जो सना-
तन भाव विद्यमान है, उसको [जाननेमें असुरगण
स्वभावतः असमर्थ है।

इस प्रकार असुर अपनी बुद्धिको नष्टकर दूर-
दर्शिताके अभावमें भयंकर कर्म करते हैं, जिससे
जगत्का अहित होता है। इन्हीं कर्मोंके फलस्वरूप
ही आशंकिक विस्फोटका जन्म हुआ है। असुरोंकी
भयंकर योजनाएँ जगत्का हित कभी भी नहीं कर
सकती।

प्राचीनकालमें जिस प्रकार रावणने श्रीरामचन्द्र
को धोखा देकर जन-साधारणके हितके लिए (?)
स्वर्गकी पक्की सीढ़ी बनवानेकी परिकल्पनाकी थी और
अन्तमेंवह जिस प्रकार असफल हुआ था, उसी प्रकार
रावणके वर्तमान वंशधर भी जनसाधारणका उपकार
करनेके लिए अनेक योजनाएँ (?) प्रस्तुत करते हैं।
एक असुरकी योजना दूसरे असुरकी योजनासे मेल
नहीं खाती। किसीका कहना है, उनकी योजना चम-
त्कारपूर्ण है, अतएव उन्हें ही बोट दें। दूसरेका
कहना है कि उनकी योजना सर्वपित्ता श्रेष्ठ है, अत-
एव उन्हें ही बोट दें। इस बोटके युगमें कौन किसको
बोट दे ? परस्पर विरोध होनेके कारण ‘स्वर्गकी
सीढ़ियाँ’ ढूटकर गिर पड़ती हैं। विवेचना करनेसे
हम यह देख पाते हैं कि दूरहृष्टीन नष्ट प्रकृति
व्यक्तिकी योजनाओंके द्वारा जगतमें शान्तिकी संभा-
वना नहीं है। फिर भी असुरगण भगवानको धोखा
देकर उनकी शक्तिका भोग करना चाहते हैं।

प्रत्येक असुर अपनेको ही बुद्धिमान और मानी
समझता है तथा अपनी योजनाओंको ही लोकहित-
कर समझता है। किन्तु परिणाममें देखते हैं कि
उनकी सारी कामनाएँ मोहब्बत पूर्व असत् हैं।
फिर भी असुरगण छल चातुरीके द्वारा अज्ञ लोगों
पर अपना प्रभाव विस्तार करते हैं।

अशुचिव्रत असत्याभ्रित असुरोंकी चिन्ताधारा अपरिमेय है। वे लोग स्व-कपोल-कल्पित नेता बनकर देश और समाजकी चिन्ता करते-करते पागल हो उठते हैं। उनका जीवन ऐसी ही चिन्ता करते-करते बीत जाता है। अपना भोग, अपने पुत्र-प्रयोत्रका भोग—इन सब भोगोंकी किया कैसे प्रलयकाल तक सुहृद हो सकती है—इस चिन्ताने ही बहुमुखी ‘भोग’ या ‘वाद’ की सृष्टि की है। किन्तु जब भोगके बदले दुःख ही मिलता है, तब वे असुरगण काम-भोगके लिए जीव हिंसा करके अन्याय भावसे भी अर्थ-संचय करते हैं। असीम काम-भोगके लिए कोटि-कोटि रूपयोंका संग्रह करके भी उनकी आशाएँ मिटती नहीं हैं। अन्यायसे जो जितना ही अर्थ-संचय कर सकता है, वह उतना ही बढ़ा नेता कहलाता है। जिस प्रकार एक पञ्चवाले असुरगण असंख्य आशाओंसे बद्ध होकर एवं काम-क्रोध आदिसे प्रेरित होकर तुच्छ इन्द्रिय सुखके लिए अपार अर्थ-संग्रह करके भी शान्ति नहीं पाते, उसी प्रकार विपक्षी असुरगण भी आशासे प्रेरित होकर अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके संचित अर्थका पुनः अपहरण करनेमें कम कुशल नहीं हैं। इस प्रकारकी अनुचित चेष्टासे अर्थ-संचय करनेकी आसुरिक प्रतियोगिता मनुष्य जाति का किस प्रकार कल्याण कर सकती है? इसीलिए मनुष्य जातिको शान्ति प्रदान करना असुरोंके द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है।

असुर सदैव यही चिन्ता करते हैं कि “आज बैंकमें कितना रूपया बढ़ा? आज बाजारमें दलाली करके क्या लाभ हुआ? आगामी कल अमुक-अमुक बस्तुओं पर दर बढ़ानेसे कितना लाभ होगा? हमारा

Bank Balance इतना था, इसबार इतना होगा। इस प्रकार निकट भविष्यमें धन और भी बढ़ेगा। मेरा अमुक शत्रु भर गया है। दूसरा शत्रु भी शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। इसलिए शीघ्र ही मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा; इस प्रकार शत्रु-हनन करनेमें विशेष पारदर्शी होनेके कारण मैं ही भगवान हूँ, भगवान को और कहाँ हूँ ढंडना है? ‘शत-शत भगवान घूरिछे सम्मुखे तोमार! ’ अर्थात् सैकड़ों भगवान तुम्हारे सामने घूम रहे हैं, दूसरी जगह उन्हें कहाँ हूँ ढंड रहे हो?” इस प्रकारकी आसुरिक विचार धारा द्वारा मोहित होकर भगवानकी अमृतमयी वाणीको सुनने के लिए असुरगण प्रस्तुत नहीं हैं। वे कहते हैं—“भगवान कौन है? मैं ही तो भगवान हूँ। मैं जब अनुचित रूपसे अर्थ—संचय कर जगतका भोगकर सकता हूँ, तब मैं ही तो भगवान हूँ एवं मैं ही भोगी, सुखी, बलवान और सिद्ध हूँ। जिनके पास बल-पौरुष या अर्थ सम्पत्ति नहीं है, वे लोग हमें ही भगवान समझकर सम्मान देंगे। अन्य किसी अदृश्य भगवानको पुकारनेका क्या प्रयोजन है?”

असुरगण अपनेको ही सबसे अधिक धनवान और शक्तिशाली समझते हैं। अपने संचित अर्थके बलसे असुरगण मोहित होकर नाना प्रकारके अमर्में पड़ जाते हैं। इस प्रकार मायाके मोहजालमें पड़कर वे नरकमें गमन करते हैं।

असुरोंके याग-यज्ञादि अनुष्ठान धन-मान-मदकी आशासे ही अनुष्ठित होते हैं। वे शास्त्र-विधि का उल्लंघनकर दांभिकताके साथ यज्ञका नाममात्रके लिए अनुष्ठान करते हैं। अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध आदिसे चालित होकर वे “यह शरीर मेरा है

और वह शरीर उसका है, मैं हिन्दू हूँ, वह व्यक्ति मुसलमान है, मैं बज्जाली हूँ, वह अबज्जाली है, मैं जर्मन हूँ, वह अंग्रेज है”—ऐसा समझकर जीव हिंसाके कार्यमें व्यस्त रहते हैं। ऐसे-ऐसे हिंसा-परायण क्रूर-नराधमोंको भगवान् अपनी दैवीमायाके त्रिशूलसे बिछुकर नानाप्रकारके अशुभ, अशुचि,

असुर योनियोंमें पुनः पुनः निच्छेप करते हैं। बार-बार जन्म प्राप्तकर वे मृदृ नराधम जन्म-जन्मान्तरमें भी भगवान् एवं उनके नाम-रूप-गुण-लीला आदिके रहस्यको न समझनेके कारण निर्विशेष ज्ञानरूप अधमगतिको ही प्राप्त होते हैं। (क्रमशः)

—त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भवितवेदान्त स्वामी महाराज

— — —

श्रीगिरिधारी दासाधिकारीका परलोकगमन

हम अतिशय दुःखके साथ पाठकोंको यह शोक-सम्बाद दे रहे हैं कि पिछली १२ जुलाईको श्रीश्री-जगन्नाथ देवकी पूर्ण रथयात्राकी रातके ३। बजे मेदिनीपुर (५० बज्जाल) के अन्तर्गत पूर्वचक-निवासी श्रीगिरिधारी दासाधिकारी प्रभु (पूर्व नाम—श्रीगिरीशदास) हमलोगोंको सदाके लिये विरह-सागरमें निमज्जित कर स्वधाममें पदार गये।

श्रीगिरिधारी प्रभु १००८ श्रीश्रीआचार्यदेवके आभित एक समृद्ध एवं निष्ठासम्पन्न सदृगृहस्थ वैष्णव थे। ये समितिके प्रधान पृष्ठपोषकों एवं सहायकोंमें से एक थे। उनके विच्छेदसे हम श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सदस्य वर्ग उनका अभाव विशेष रूपसे अनुभव कर रहे हैं।

गत २२-७-६२ को पूर्वचकमें १००८ श्रीश्रीआचार्यदेवके पौरहित्यमें इनका विरहोत्सव वैष्णव-सृतिके अनुसार विशेष समारोहके साथ सम्पन्न हुआ है। इस उत्सवमें ८ संन्यासियों एवं १६ ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त सैकड़ों गृहस्थ वैष्णवोंने योगदान किया। लगभग ५००० व्यक्तियोंको विविध प्रकारका भगवत् प्रसाद वितरण किया गया। विस्तृत विवरण अगली संख्यामें प्रकाशित होगा।

—निजस्व संवाददाता

— — —

जिनकी विरह (तिरोभाव) तिथियाँ मनायी गयी हैं

(१) श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर

नित्यलीला प्रविष्ट उँचिष्ठानुपाद श्रीश्रीमद् सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरका नाम गौडीय-गगनमें सदा देवीप्यमान रहेगा। ये ब्रजलीलाकी ओकमलमंजरी हैं। इनका आविर्भाव २ सितम्बर, १८३८ ई० रविवारको हुआ था। इन्होंने अपने गृहस्थ एवं गृहत्यागी—दोनों ही अवस्थाओंमें विशुद्ध भक्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करनेका महान आदर्श स्थापित किया है।

करुणा-वरुणालय स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य-महाप्रभु एवं उनके पार्षद भक्तोंद्वारा केवल बंगालमें ही नहीं, अपितु सारे भारतमें शुद्धभक्तिका प्रबल प्रचार होने पर भी तथा उन पार्षद भक्तोंद्वारा विशुद्ध भक्तिपूर्ण विपुल वैष्णव-साहित्यका सृजन एवं प्रचार होनेपर भी उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें सहजिया, सखी-भेकी, स्मार्त एवं जात गोसांई आदि तथाकथित एवं असत् सम्प्रदायोंद्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचार-विचारोंका विकृत रूपमें प्रचार होने लगा। इसका फल यह हुआ कि लगभग शत प्रतिशत लोग उस विकृत आचारों एवं विचारोंको ही श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा समझ कर उसीका पालन करने लगे, जिससे शिक्षित समाजमें वैष्णव लोग अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखे जाने लगे। ठीक इसी समय श्रीठाकुर महाशयका शुभाविर्भाव हुआ, जिन्होंने विभिन्न भाषाओंमें विपुल वैष्णव साहित्यका सृजन एवं प्रचुर प्रचार द्वारा प्राप्त एवं पाश्चात्य शिक्षित-

वर्गकी श्रीचैतन्यदेव सम्बन्धी विकृत धारणाओंको सबसे पहले दूरकर वैष्णव सम्प्रदायमें नव-जीवनका संचार किया। उन्होंने प्रस्थान-त्रयी—उपनिषद्, वेदान्तसूत्र एवं गीताके ऊपर भाष्य रचनेके अतिरिक्त पूर्वाचार्योंके प्रन्थोंका भाष्य, अनुवाद टीका, वृत्ति तथा सैकड़ों मौलिक अमूल्य प्रन्थरत्नोंकी रचना की है। इनका गीति - साहित्य गौडीय वैष्णव - साहित्यकी अमूल्यनिधि है। इनके विशाल वैष्णव-साहित्यने आज के भयंकर जड़वाद एवं शुष्क तार्किक जगतमें एक बेजोड़ क्रान्ति उपस्थित कर दिया। इस प्रकार उन्होंने गौडीय वैष्णव दर्शनको पुनः पूर्ण निर्मल एवं सर्वश्रेष्ठ दर्शनके पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने लुप-प्रायः श्रीमन्महाप्रभु की आविर्भाव-स्थली श्रीधाम मायापुरका आविष्कार कर तथा (पुत्रके रूपमें) श्रीगौरसुन्दरके निजजन — श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीका प्रकाश कर विश्वका अशेष कल्याण सावन किया है। इनका साहित्य-सविता, धाम-सूर्य—श्रीमन्महाप्रभुका आविर्भाव स्थल श्रीमायापुर एवं आचार्य-भाष्कर—श्रीसिद्धान्त सरस्वती—ये प्रमुख दान वैष्णव जगतके लिये सम्पूर्ण अभिनव हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर वर्त्तमानयुगमें श्रीस्वरूप-हृषि-जीव-रघुनाथ-कृष्णदास-धाराका पुनरुद्धार करनेवाले सप्तम गोस्वामीके रूपमें मूल महाजन हैं। उनकी नाम-भजन-प्रणाली वैष्णव-जगतके लिये एक और प्रधान देन है। जगतवासी इनके अतुलनीय दानोंके कारण उनका चिर-कृतज्ञ रहेंगे। इनका अप्रकटकाल २३ जून, १९१४ ई० है।

गत १७ आषाढ़, २ जुलाईको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके समस्त शाखा-मठोंमें इनका विरहोत्सव खूब धूमधामके साथ मनाया गया है। श्रीउद्धारण गौड़ीय-मठ चुँचुड़ामें श्रीश्रीआचार्यदेवकी अध्यक्षतामें एक बड़ी सभाका आयोजन किया गया था, जिसमें अनेक वक्ताओंने तथा अन्तमें श्रीश्रीआचार्यदेवने श्रीश्रीठाकुर महाशाचके अप्राकृत जीवन-चरित्र एवं उनकी शिक्षाओं पर विस्तारसे प्रकाश डाला। श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ मथुरामें भी एक सभाका आयोजन किया गया था जिसमें श्रीभागवत पत्रिकाके सम्पादक महोदयने श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी जीवन एवं शिक्षा के सम्बन्धमें पाण्डित्यपूर्ण भाषण दिया।

(२) श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी

प्रख्यात पंचतत्त्वमें से एक गौर-शक्ति गदाधर पण्डितका आविर्भाव १४०८ शकाब्द, वैशाखी अमावस्या तिथिको हुआ था। ये ब्रजलीलाकी स्वयं श्रीमती राधिकाजी हैं। इनके पिताका नाम श्रीमाधव मिश्र तथा माताका नाम श्रीमती रत्नावती देवी था। ये शैशवकालसे ही विषयोंसे विरक्त और अनन्य कृष्णभक्त थे। १२ वर्षकी आयु तक बेलटी (बंगाल) नामक गाँवमें निवासकर फिर नवद्वीपमें मामाके पास रहने लगे थे। ये श्रीमन्महाप्रभुके सहपाठी एवं अन्तरङ्ग साथियोंमेंसे थे। जब श्रीमहाप्रभुजी संन्यास प्रहणकर जगन्नाथपुरीमें रहने लगे, तब ये भी पुरी चले आये और श्रीमहाप्रभुजीके साथ ही रहने लगे। ये उच्च कोटिके विद्वान एवं श्रीभागवतके परम रसिक थे। श्रीमन्महाप्रभुजीको बड़े प्रेमसे श्रीमद्-

भागवत सुनाया करते थे। इन्होंने अपने इष्टदेव श्रीचैतन्यमहाप्रभुके निर्देशानुसार महाभागवत श्रीपुण्ड्रीक विद्यानिधिको गुरु वरण किया था। श्रीचैतन्य-चरितामृत और भक्तिरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें इनके जीवन-चरित्रका बड़ा ही सरस एवं हृदयस्पर्शी वर्णन है। श्रीमन्महाप्रभुकी अप्रकट लीलाके पश्चात् इनकी जैसी विरह-दशा हुई थी—उसे देखकर पत्थर भी पिघल जाते थे और उसके ठीक ग्यारह माहके पश्चात् पुरीधाममें ४७ वर्षकी आयुमें १४५६ शकाब्दमें ये भी अप्रकट लीलामें प्रविष्ट हो गये। श्रीलोकनाथ गोस्वामी, श्रीभूगर्भ गोस्वामी, श्रीअच्युतानन्द, श्रीरघुनाथ भागवत इनके प्रधान शिष्योंमें थे। श्रीबल्लभ भट्ट (पीछे श्रीबल्लभाचार्यके नामसे प्रसिद्ध) पहले बाल-गोपाल-मंत्रसे कृष्णकी सेवा करते थे। परन्तु पुरीधाममें उपस्थित होने पर ये भी श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामीके महान पाण्डित्य एवं प्रेमभक्तिके उच्च सिद्धान्तोंसे मुग्ध होकर इनसे मन्त्र प्रहणकर श्रीकिशोर गोपालकी सेवामें प्रवृत्त हुए थे (चैतन्य-चरितामृत अन्तर्लीला सप्तम परिच्छेद)।

१७ आषाढ़, २ जुलाई १६६२ को श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके समस्त शाखा मठोंमें इनकी तिरोभाव-तिथि मनायी गयी है।

(३) श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी

श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी, श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी के द्वितीय-स्वरूप थे। श्रीमहाप्रभुके अत्यन्त अन्तरङ्ग साड़े तीन प्रेमी भक्तोंमेंसे एक थे। ये ब्रजकी ललिता सखी हैं। पिताका नाम श्रीपद्मगर्भाचार्य था। ये अपने मातामह श्रीजयराम चक्रवर्तीके पास नवद्वीपमें

ही रहते थे। श्रीजयराम चक्रवर्ती पहले भिटादिया (बंगाल) नामक प्रामके वासिन्दा थे। पीछेसे नव-द्वीपमें आकर बस गये थे। इन्होंने अपनी कन्याका विवाह पद्मार्गभार्चार्यके साथ कर दोनोंको अपने पास ही रख लिया था। कुछ दिनोंके पश्चात् स्वरूपदामोदरका जन्म होने पर श्रीपद्मार्गभार्चार्य पत्नी एवं पुत्र दोनोंको अपने श्वसुरालयमें ही छोड़कर तीर्थ-यात्रा पर निकल गये। संयोगवश वाराणसीमें श्रीमाधवेन्द्र पुरीके गुरु श्रीलक्ष्मीपतिसे इनकी भेंट हुई और वही उनके निकट ही इन्होंने दीदा प्रहण की। तदनन्तर ये पुनः भिटादिया लौटकर दूसरा विवाह कर लिये।

इधर स्वरूप-दामोदरका पालन-पोषण तथा विद्याध्ययन मातामहके घरपर ही सम्पन्न हुआ। ये श्रीचैतन्य महाप्रभुके छात्र-जीवनके अन्तरङ्ग संगियोंमें से एक थे। इनका पूर्व नाम पुरुषोत्तम था। जब श्रीमन्महाप्रभुजी संन्यास प्रहणकर पुरी चल गये, तब ये भी नवद्वीपमें न रह सके तथा वाराणसीमें श्रीचैतन्य नामक एक संन्यासीसे संन्यास लेकर पुरी चले गये और श्रीचैतन्य महाप्रभुके पास ही रहने लगे। स्वरूप-दामादर इनके संन्यासका नाम है।

ये प्रकाशड विद्वान्, अलौकिक प्रतिभाशाली, अतुलनीय सिद्धान्तविद् तथा रसिकजन-चूडामणि थे। कोई भी ग्रन्थ, गीत, पदावली तथा काव्य-जो श्रीमन्महाप्रभुजीको सुनाना होता था, उसे पहले इन्हीं के पास लाया जाता था। ये देखकर अनुमति प्रदान करने पर ही उसे श्रीमहाप्रभुजीको सुनाया जाता था। यदि उन रचनाओंमें सिद्धान्त-विरोध या रसाभासदोष होता, तो वे उन्हें श्रीमहाप्रभुके पास नहीं

ले जाने देते थे; क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी वैसी रचनाओं को सुननेसे बड़े असन्तुष्ट होते थे।

श्रीस्वरूप दामोदर सर्वदा श्रीमन्महाप्रभुके समीप रहते थे। वे महाप्रभुजीकी गूढ़ लीलाओंको श्लोकाकारमें लिपिबद्ध कर लेते थे। इनके ये विखरे श्लोक “कड़चा”के नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको श्रीमन्महाप्रभुजीने इन्हींके हाथोंमें समर्पण किया था। श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा आविष्कृत उन्नत-उच्चवल भक्तिरस-सिद्धान्त-जो गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें प्रचलित है—उसके मूल पुरुष श्रीदामोदर स्वरूप ही हैं।

गत १६ आपाढ़, ४ जुलाई, बुधवारको श्रीरथ-यात्राके दिन श्रीगौडीय वेदान्त समितिके समस्तके शास्त्र-मठोंमें इनका विरहोत्सव मनाया गया है।

(४) श्रीसनातन गोस्वामी

श्रीसनातन गोस्वामी—कलियुगपावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग मनोऽभीष्ट संस्थापकवर वृन्दावनके प्रसिद्ध छः गोस्वामियोंमें सबसे ज्येष्ठ एवं पूर्व हैं। ये ब्रजलीलाकी श्रीरतिमंजरी या श्रीराग मंजरी हैं। कोई-कोई लवंग मंजरी भी मानते हैं। ये चारो-कुमारोंमें प्रसिद्ध सनातनके अवतार भी माने जाते हैं। इनका आविर्भाव १४१० शकाब्द (सन् १४८८ ईं) में कर्नाटक देशीय भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदीय ब्राह्मण कुलमें हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीकुमारदेव और माताका नाम श्रीमती रेवतीदेवी (काश्यप ब्राह्मण कुलोत्पन्न) था। कुमारदेवकी अन्यान्य संतानोंमें श्रीसनातन, श्रीरूप एवं श्रीअनुपम—ये तीन प्रसिद्ध हैं। श्रीसनातन

सर्वविद्यापारंगत, अलौकिक मेधावी, परम गंभीर और अनन्य भगवद्-भक्त थे। इनके गुणोंसे मुग्ध होकर तात्कालीन गौड़-नरेश हुसेन शाहने इनको अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया था। श्रीरूप और अनुपम भी गौड़-नरेशके मन्त्री थे। पीछेसे श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके चरणोंमें आत्मसमर्पण करके श्रीसनातन जी अपने भाइयोंके साथ अपना राजपद, अतुल विषय-वैभव और घर-बार छोड़कर कंगाल वेशमें वृन्दावन चले गये। रास्तेमें वाराणसीमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इनको वैष्णवोचित वेश प्रदान कर तथा उनमें शक्ति-संचारकर साध्य-साधन तत्त्वकी शिक्षा दी थी। उसी समय श्रीमहाप्रभुजीने उनके ऊपर चार प्रकारकी सेवाओंका भार प्रदान दिया था—(१) शुद्धभक्ति-सिद्धान्तोंकी स्थापन करना, (२) ब्रजमण्डल के लुप्त तीर्थों और लीला स्थलियोंका प्रकाश करना (३) श्रीविष्णु सेवा-प्रकाश और (४) वैष्णव-स्मृति-संकलन तथा वैष्णव सदाचारका प्रबन्धन।

तत्पश्चात् वे वृन्दावनमें अत्यन्त दीन-हीन भाव-से तथा कृष्ण-विरहमय वैराग्यके साथ कृष्ण-भजन करते हुए श्रीमन्महाप्रभुकी आङ्गाओंके पूर्ण करनेमें तत्परतासे लग पड़े। इनका त्याग-वैराग्य गौड़ीय वैष्णवोंका आदर्श है। श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य २०-२५ अध्यायोंमें सनातन-शिक्षाका बड़ा ही प्रांजल एवं हृदयस्पर्शीरूपमें वर्णन किया गया है, जो गौड़ीय वैष्णवोंके लिये महान आदरणीय, शिक्षणीय और आचरणीय है। श्रीचैतन्यचरितामृत, भक्तमाल

एवं भक्तिरत्नाकर आदि ग्रन्थोंमें इनके जीवन-चरित्रका सविस्तार वर्णन है। इन्होंने लुप्त तीर्थों और कृष्णकी लीलास्थलियोंका प्रकाश कर, वृन्दावनमें विख्यात श्रीमद्दनमोहन-की सेवा प्रकट कर तथा नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना कर श्रीमहाप्रभुजीकी आदेशोंका पूर्णरूपेण पालन किया।

रचित ग्रन्थ

उनके रचित ग्रन्थोंमें—(१) श्रीवृहद्भागवतामृत और उसकी दिग्दर्शनी टीका, (२) श्रीहरिभक्तिविलास और उसकी दिग्दर्शनी टीका, (३) श्रीकृष्णलीला-स्तव या दशम् चरित, (४) श्रीमद्भागवतकी टीका—वैष्णव तोषिणी तथा (५) लघु हरिनामामृत व्याकरण—ये प्रसिद्ध हैं।

ये १४८० शकाब्द, १५५८ ईं की आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन ७० वर्षकी आयुमें अप्रकट हुए। उनकी स्मृतिमें आज भी प्रतिवर्ष श्रीगोवर्ध्नमें उक्त तिथिको बड़ा भारी मेला लगता है, जो मुझे पुनिया के नामसे प्रसिद्ध है।

गत १ आवण, १७ जुलाईको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके समस्त शास्त्र-मठोंमें उनका विरह-महोत्सव मनाया गया है। श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ मथुरामें त्रिदिविष्णवामी श्रीमद्भक्ति कुशल नारसिंह महाराज के सभापतित्वमें श्रीभागवत पत्रिकाके सम्पादक महोदयने श्रीसनातन गोस्वामीके अप्राकृत जीवन-चरित्र एवं विविध-शिक्षाओंके ऊपर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश ढाला।

उडीसामें समितिकी नयी शाखा

[श्रीगोपालजी गौड़ीय प्रचारकेन्द्र; ग्राम-कोरण्ट, पो०-राष्ट्रिया हाट (बालेश्वर)]

पाठकोंको यह जान कर अतिशय आनन्द होगा कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने उडीसा प्रान्तके बालेश्वर जिलामें भद्रकके निकट कोरण्ट नामक ग्राम में एक शुद्ध भवित-प्रचारकेन्द्र स्थापित किया है। कोरण्ट एक छोटा सा गाँव होने पर भी यहाँ पर उडीसाके करण-लोगोंका अधिक संख्यामें निवास है। यहाँके अधिवासी अधिकांश सुशिक्षित और उच्च ब्रेणीके कर्मचारी हैं। श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा यहाँ एक शाखा स्थापित होनेका बहाँकी जनताने स्वागत किया है। समितिको श्रीश्रीगोपालजीकी सेवा तथा उक्त प्रचार केन्द्रकी परिचालनाके लिये माननीय श्रीयुत लालमोहन महापात्र द्वारा लगभग १८० चिपा धानी जमीन (भूमि) प्राप्त हुई है। श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके श्रीश्रीआचार्यदेवने इस शाखाका नाम 'श्रीगोपालजी गौड़ीय प्रचार-केन्द्र' रखा है।

यह स्थान उडीसा प्रान्तके बालेश्वर जिलेमें भद्रक मुहकमेके अन्तर्गत भद्रक शहरसे २॥ मील पूर्व-उत्तरमें स्थित है। निकट ही शालिन्दी नदी प्रवाहित होती है। स्वास्थ्यकर स्थान है। आवागमनकी सुविधा है। बस, रिक्सा और जलयान सब समय पाये जा सकते हैं। विशेष उत्तेज्ज्व योग्य है कि श्रीभक्तिविनोद ठाकुर इस भद्रक मुहकमेके सब डिविजनल आफिसर (एस. डी. ओ.) पद पर नियुक्त किये जाने पर यहाँ उन्होंने "श्रीकृष्णसंहिता" नामक विख्यात प्रन्थ लिखा था। हम श्रीगोपालजी गौड़ीय प्रचार-केन्द्रमें श्रीठाकुर भक्तिविनोदजीकी पवित्र चरित्र सर्वदा स्मरण करनेका सुयोग पासकेंगे।

भद्रक रेलवे स्टेशनको पार करने पर पहला स्टेशन बाउदपुर है। यहाँसे तीन फलाङ्क दूर ही यह कोरण्ट प्राम है। आवागमनका मार्ग अत्यन्त उत्तम है, साथ ही यहाँका बातावरणभी अतीव मनोरम है। हम श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी ओरसे उक्त श्रीलालमोहन महापात्र और उनकी सहधर्मिणीको शुद्धाभक्ति प्रचार केन्द्रकी स्थापनाके लिये हार्दिक धन्यवाद झापन कर रहे हैं।

—प्रकाशक

श्रीश्रीरथयात्रा-महोत्सव

पिछले वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, नुँ चुडामें श्रीजगन्नाथ देवका श्रीरथयात्रा-महोत्सव महासमारोहके साथ सम्पन्न हुआ है। ३ जुलाईको गुरिडचा-मन्दिर-मार्जन, ४ जुलाईको श्रीरथयात्रा; ८ जुलाईको हेरा-पंचमी तथा १२ जुलाई को पूर्णयात्राके महोत्सव मनाये गये हैं। अन्तिम दिन पूर्णयात्राके दिन विविध प्रकारका भगवत् प्रसाद वितरण किया गया। उत्सवकालमें प्रतिदिन शामको १००८ श्रीश्रीआचार्य देवका श्रीमद्भागवत-प्रवचन होता था। छाया-चित्रद्वारा श्रीश्रीगौरलीला एवं कृष्णलीलाके ऊपर त्रिविहिनस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराजके भाषण भी हुए। पुरीधाममें भी ४ जुलाईको श्रीरथयात्रा एवं १२ जुलाईको पूर्णयात्रा सम्पन्न हुई है।

—प्रकाशक